

राजस्थान की सन्त-वाणी में प्रकृति और पर्यावरण

डॉ हरीश कुमार

सह-आचार्य, हिन्दी-विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
जैतारण (पाली) राजस्थान

शोध – सारांश

निर्गुणमार्गी संतों ने मानव जीवन के साथ जीवमात्र के कल्याण की कामना की है और उनके लिए वनस्पति जीवन भी अपवाद स्वरूप नहीं। राजस्थान में अनेक संतों ने उसी भावभूमि पर एक निराकार ईश्वर की बनाई इस सृष्टि का समता की दृष्टि से देखने का ज्ञानमार्गी उपदेश दिया। इन संतों से जो संप्रदाय या पंथ चल निकले वे राजस्थान की धार्मिक व सांस्कृतिक परंपराओं की अनूठी पहचान बन गये हैं। राजस्थान में वि. सं. 1542 में सन्त जाम्भोजी जी ने बिश्नोई सम्प्रदाय की स्थापना की। वे प्राकृतिक व्यवस्था में अटूट विश्वास करते थे तथा भविष्य में होने वाले पर्यावरण-असंतुलन के प्रति सचेष्ट थे। इसलिए उन्होंने जीव-दया एवं हरे वृक्षों की सुरक्षा के लिए अनिवार्यता प्रतिपादित की। जाम्भोजी की मान्यता थी कि जीव-जन्तु प्रकृति प्रदत्त अमूल्य निधि हैं। हरे वृक्ष तो प्राणवायु हैं अतः उनका संहार मानव समाज का संहार है। जांभोजी के पश्चात कवि वील्होजी ऐसे संत हुए जिन्होंने जाम्भोजी के मानवतावादी धर्म, जीव-दया, हरे वृक्षों की सुरक्षा आदि कार्यों को जारी रखा। राजस्थान में जाम्भोजी के परवर्ती विभिन्न पंथ, संप्रदायों के संतों ने प्रकृति को अधिकांशतः उपदेशात्मक रूप में ग्रहण किया प्रकृति के भिन्न-भिन्न व्यापारों की ओर संकेत करते हुए न केवल ब्रह्म को सर्वव्यापी बताया अपितु इसे प्रतीक रूप में ग्रहण कर अपने उपदेशों को आम जनता के लिए सरल बनाया। संत रामचरण कहते हैं कि पात-पात में पुरुषोत्तम का निवास है, माटी का महादेव बनाकर उस पर पते तोड़कर चढ़ाना, परमात्मा को दुख देना है। इस प्रकार रामसेही संप्रदाय में जीवों की रक्षा का इतना अधिक ध्यान रखा जाता है कि रामसेही जन पानी कपड़े से छान कर प्रयोग में लाते हैं, सूर्यास्त के बाद भोजन नहीं करते, रात में दीपक नहीं जलाते और वर्षा ऋतु में चार मास एक स्थान पर व्यतीत करते हैं। इस प्रकार प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण में धार्मिक मान्यताओं की अहम भूमिका रही। इनका मूल सिद्धांत ही प्रकृति और मनुष्य के बीच में समन्वय है। इनकी मान्यताएं हमेशा से प्रकृति के संरक्षण में निहित रही। संतमत के अनुसार मनुष्य का अस्तित्व ही प्रकृति से निर्मित है, इनकी प्रत्येक मान्यता एवं परम्परा में प्रकृति का संरक्षण केन्द्र बिन्दु है।

बीज शब्द

राजस्थान, संत, बिश्नोई, रामसेही, संप्रदाय, प्रकृति, पर्यावरण।

निर्गुण आंदोलन मध्ययुग की सबसे बड़ी सामाजिक, धार्मिक और अन्ततोगत्वा मानव जीवन के सभी पहलुओं से जुड़ी एक विशाल क्रांति थी। मध्ययुग के इन संतों का वाणी-साहित्य मूलतः एक प्रकाश मार्ग है, जो सभी प्रकार के अज्ञान एवं अंधकार को दूर कर देना चाहता है। निर्गुणमार्गी संत केवल मानव जीवन से ही प्रेम नहीं करता बल्कि प्राणीमात्र का प्रेमी है और उसके लिए वनस्पति जीवन भी अपवाद स्वरूप नहीं। कबीर ने कहा है कि-

"जैन जीवन की शुद्धि नहीं जाने पाती तोड़ि देहुरे आने"¹

अर्थात् जैनियों को जीवन का महत्व ज्ञान नहीं, क्योंकि वे पत्तियां तोड़ कर उन्हें मंदिरों में चढ़ाया करते हैं। यह विश्वास की सब कोई किसी भी योनि में जन्म धारण कर सकते हैं, सब किसी को एक वृहत भ्रातृ-समाज में बांधने का प्रेमसूत्र बन जाता है। निर्गुणमार्गी संत केवल अहिंसा का

ही सिद्धांत स्वीकार नहीं करता वह विरोध का भाव भी अपनाए रहता है। किसी को भी मनसा, वाचा व कर्मणा से हानि नहीं पहुंचनी चाहिए।

जिस प्रकार उत्तर भारत में नानक, कबीर आदि संतों ने धर्म में पनपे कठमुल्लापन का विरोध कर निर्गुण भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया, उसी प्रकार राजस्थान में अनेक संतों ने उसी भावभूमि पर एक निराकार ईश्वर की बनाई इस सृष्टि का समता की दृष्टि से देखने का, लोकोपकार का और अनासक्ति को ही धर्म के प्रमुख कर्तव्य के रूप में देखने का ज्ञानमार्गी उपदेश दिया। इन संतों से जो संप्रदाय या पंथ चल निकले वे राजस्थान की धार्मिक व सांस्कृतिक परंपराओं की अनूठी पहचान बन गये हैं और यहां की महत्वपूर्ण देन है।² इनमें रामानंद के प्रमुख शिष्य संत पीपाजी विशेष उल्लेखनीय हैं। पीपाजी ने अपनी रचनाओं में प्रकृति के विभिन्न पशु-पक्षियों को निमित्त बनाया और उन्हें चिन्हित कर मानव मन की चंचलता, चिन्तन-दर्शन में प्रतीकात्मक भावों से आत्मा-परमात्मा का संबंध जोड़ा। उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रयुक्त तरुवर, अंबरीक(आकाश) गिरवर, चंद्रमा, सरवर, गगन-तीर्थ, देव स्वामी जैसे शब्द जहां परमतत्व के लिये प्रयोग किये वहीं जनपांखी, मोर, चकोरा, मंछा(मछली), विहंग, कासी, बंछा(बछड़ा) पाती, सेवक जैसे शब्द जीवात्मा के लिए उपयोग में लिए जिनसे परमात्मा तथा जीवात्मा का संबंध उजागर होता है यथा-

*"तू मेरा तरवर है, जनपांखी है। अंबरीश धू नारद साषी।
जौ तुम्ह गिरवर तौ मैं भोरा। जौ तुम्ह चंदाराम तौ मैं
चकोरा।"*³

इसी क्रम में राजस्थान की धरा पर वि. सं. 1542 में सन्त जाम्भोजी जी का अवतरण हुआ। उन्होंने बिश्रोई सम्प्रदाय की स्थापना की। जाम्भोजी की सबदवाणी तथा उनके द्वारा प्रदत्त 29 नियमों में प्रकृति के विभिन्न घटकों-जल, वर्षा, सूर्य, चंद्रमा, ऋतुओं आदि का उल्लेख करने के साथ ही वनों की रक्षा एवं वन्य जीवों की सुरक्षा के संबंध में विशद वर्णन मिलता है। वे प्राकृतिक व्यवस्था में अटूट विश्वास करते थे तथा भविष्य में होने वाले पर्यावरण-असंतुलन के प्रति सचेष्ट थे। इसलिए उन्होंने अपने जीवन-काल में मुख्य लक्ष्य के रूप में जीव-दया एवं हरे वृक्षों की सुरक्षा के लिए अनिवार्यता प्रतिपादित की। जाम्भोजी की मान्यता थी कि जीव-जन्तु प्रकृति प्रदत्त अमूल्य निधि हैं। हरे वृक्ष तो प्राणवायु हैं अतः उनका संहार मानव समाज का संहार है। हरे वृक्षों के संहार को उन्होंने हत्या तुल्य अपराध की संज्ञा दी। वन संपदा एवं वन्य प्राणियों के सामाजिक, आर्थिक महत्व का आंकलन वे इस प्रकार से करते हैं -

*"जीव न मारो, सिद्धि रहे हैं।
सब जीवन कू ईश्वर निहारो।।
लीला रूख न काटो कोई।
अष्ट सिद्धि नौ निधि खड़ी रहे घर माही।।"*⁴

जाम्भोजी के अनुसार मनुष्य का अस्तित्व ही प्रकृति से निर्मित है। अतः उन्होंने उसी प्रकृति के बीच अपना वास बताया। साथ ही उन्होंने चैतन्य जीव रक्षा के अतिरिक्त वनस्पति छेदन को भी अनुचित एवं पाप कर्म ठहराया। उन्होंने अपने द्वारा प्रतिपादित 29 धर्म नियमों में 'वनस्पति रक्षा' को एक धर्म-नियम बनाया, वह कहते हैं-

*"हरा वृक्ष नहीं काटना यह सबका मंतव्य।
रक्षा में तत्पर रहो जान यही कर्तव्य।।"*⁵

जाम्भोजी के पश्चात कवि वील्होजी ऐसे संत हुए जिन्होंने जाम्भोजी के मानवतावादी धर्म, जीव-दया, हरे वृक्षों की सुरक्षा आदि कार्यों को जारी रखा। वस्तुतः वील्होजी ने बिश्रोई संप्रदाय को जाम्भोजी के बाद सुदृढ़ता प्रदान की। बिश्रोई धर्म के पालन हेतु उन्होंने बत्तीस आखड़ी(नियम) लिखी। जिनमें से एक प्रसिद्ध है-

*"जीव दया नित राख, पाप नहीं कीजिये।
जांडी हिरण संहार, देख सिर दीजिये।।"*⁶

कथा अवतारपात के छन्द में उन सभी वन्य जीवों, पखेरूओं, वृक्षों, जंगल आदि को धन्य बताया गया है जहां जाम्भोजी ने विचरण किया था। इस छन्द को बिश्रोई समाज के लोग एक मंत्र के रूप में जपते हैं। खेजड़ी वृक्षों की रक्षार्थ (जिसे राजस्थान का कल्पवृक्ष माना जाता है) करमां और गोरा ने अपने प्राणों का उत्सर्ग किया था। इस कथा के माध्यम से संत वील्होजी ने सभी को संदेश देते हुए लिखा-

*गुरु फुरमाई षांडाधार, और आयो सारीये।
आपणडो जीव कबूल, पर जीव उबारिये।।
उबारिये जीव - जीव काजै, राणि सथीरो होयो।
रोषां ऊपरी मरण मातो, कीजै ज्यै करमणि कीयो।।
करणी पालि उजाळी सतपथ, प्रेम जोति पाईयो।
जीव काजै जिंद परच्यौ, टीमों गुरु फरमाइयो।।"*⁷

अर्थात् गुरु महाराज(जाम्भोजी) ने खांडे की धार वाला यह पंथ बताया है। अवसर आने पर दूसरे जीव की रक्षार्थ अपने प्राण दे देनी चाहिए। अपने हृदय में धैर्य धारण करते हुए दूसरे जीवों को बचाइए। वृक्षों की रक्षार्थ मरना चाहिए जैसे करमणि ने अपना बलिदान किया। संत वील्होजी कहते हैं कि वृक्षों को काटना पाप का आरंभ है, जो दया हीन होकर वृक्षों को काटता है और जीवों को दुख देता है, उसे कुम्भीपाक नरक मिलता है, जहां तीखी धार से उसका शरीर काटा जाता है, यह हरे वृक्ष काटने का फल है-

*रूख विरथ रोपावै दंभ, पाप तणौ मांडै आरम्भ।
दयाहीण काटी वणरा, जीव असंख्य दहया दुंहलाय।।
पान वहै करवत ज्यौ धार, वन बाढ्यां का ए उपगार।
दोर कुंभ तणौ ओ कारि, जीव नीपजता समै झारी।।"*⁸

वृक्षों की रक्षा करते हुए अगर प्राण देने पड़े तो भी वील्होजी कहते हैं-

"सिर साटै रूख रहै, तो भी सस्तो जाण।।"

राजस्थान में जाम्भोजी के परवर्ती विभिन्न पंथ, संप्रदायों के संतों ने प्रकृति को अधिकांशतः उपदेशात्मक

रूप में ग्रहण किया प्रकृति के भिन्न-भिन्न व्यापारों की ओर संकेत करते हुए न केवल ब्रह्म को सर्वव्यापी बताया अपितु इसे प्रतीक रूप में ग्रहण कर अपने उपदेशों को आम जनता के लिए सरल बनाया। सिंधल रामस्नेही संप्रदाय के संत हरिरामदास ने मनुष्य, हरे वृक्ष एवं पंछी का सुंदर चित्रण इस साखी में किया है-

"देष कबाड़ी आवतौ, तरवर डोलण लग।

मो पड़ीया का उर नहीं, पंछी का घर भग।।"⁹

संत कवि साधक को राम नाम की साल सँभाल रखने की बात करते हैं तो पश्चिमी राजस्थान की 'सेवण घास' का माध्यम बनाते हैं -

"हरिया राम सँभारिए, जब लग पिंजर सास ।

सास सदा नहीं प्राँहनौ, जो सावण का घास ।।"¹⁰

संत हरिराम दास जी संगत के चित्रण में भी प्रकृति का सहारा लेते हैं, वे कहते हैं -

" संतो संगत का फल जाणी,

तर सत्संग काठ तै लोहा, तारे नाव पखानी"¹¹

रामस्नेही संत राघोदास की वाणी में तो 'श्री बारामासों' नाम से पूरा का पूरा ग्रंथ ही प्राप्त होता है जिसमें प्रकृति का आलंबन, उद्दीपन आदि विभिन्न रूपों में स्वतंत्र वर्णन किया गया है, इस ग्रंथ की कुल छंद संख्या 232 है -

बाहरा महीना काट कर, विच - मैं देवल नीव ।

राघा सेवा पदरावसां, परसण होसी पीव ।।

जेठ असाढ़ा खंदा कियोँ, दोनों विच मैं पोल ।

किमाड़ महीनो तेरमों, राघा रातो चोल ।।"¹²

कबीर एवं जाम्भोजी की भांति शाहपुरा रामस्नेही संप्रदाय के संत रामचरण फूलपत्तियों के तोड़ने को भी हिंसा ही समझते हैं। निर्जीव की पूजा करने वाली पुजारिन निर्दयतापूर्वक सजीव फूलपत्ति की हत्या करती है। अपने पेट के आगे उसे पाप नहीं दिखते। ब्राह्मण भी यही किया करते हैं। फूल को जड़ मूर्ति पर ले जाकर चढ़ा देते हैं और घड़ी पहर में वह सूख जाता है। जब कर्ता इसका विवरण मांगता है तो उस समय जीभ नहीं डोलती-

सरजीवत पाती फूल हत निर्जीव पूजणहारी।

पुनि राम कहां से खिज मरै ये बड़ी मोल संसार।

तोड़ै फलता-फूलता ज्यां दया न दिल कै माँहि।

कारज अपणा उदर कै, पातक नहिं दर्शाहिं।

पातक नहिं दर्शाहि ल्याय जढ़ ऊपर धरि हैं।

घड़ी जाम जाय सूक विप्र यह किरिया करि हैं।

कर्ता लेखो मांगसी जब जीभ उथलसी नाँहि।

तोड़ै फलता-फूलता ज्यां दया न दिल कै माँहि।।"¹³

संत रामचरण कहते हैं कि पात-पात में पुरुषोत्तम का निवास है, माटी का महादेव बनाकर उस पर पत्ते तोड़कर चढ़ाना, परमात्मा को दुख देना है।

"पात पात पुरुषोत्तम व्यापक, ताकूं तोड़ संतावै।

माटी का महादेव बनावै, जापर ल्याय चढ़ावै।।"¹⁴

इस प्रकार वे फूल पत्ती को तोड़ने में भी हिंसा का अनुभव करते हैं, फिर निर्दोष बनवासी पशु जिसका आहार ही तृण-

पूर्वोत्तर प्रभा

जल है, की हत्या करने में बहुत बड़ा पाप का बोझ सिर पर चढ़ता है- "निरदावै वन में रहै, तृण जल करै आहार।

रामचरण ताकूं हत्या, बहुत चढ़ै शिर भार।।"¹⁵

इस प्रकार रामस्नेही संप्रदाय में जीवों की रक्षा का इतना अधिक ध्यान रखा जाता है कि रामस्नेही जन पानी कपड़े से छान कर प्रयोग में लाते हैं, सूर्यास्त के बाद भोजन नहीं करते, रात में दीपक नहीं जलाते और वर्षा ऋतु में चार मास एक स्थान पर व्यतीत करते हैं। इस संबंध में खेड़ापा रामस्नेही संप्रदाय के संत रामदास के शिष्य परमराम के विचार दृष्ट्य हैं-

जल छाणन के कारणे, गाढ़ो कपड़ों देख।

अण छाण्यों नहीं पीजिये, जल में जीव अनेक।।

जल में जीव अनेक, दया के ग्रंथ विचारो।

जुगल पटां जल छाण, जुगत जीवाणी डारो।।

या विध जल कूं परसराम, वरतो सहित विवैक।

जल छाणन के कारणे, गाढ़ो कपड़ों देख।।"¹⁶

इसी प्रकार संत वील्होजी भी कहते हैं-

अण छाण्यो पांणी बावरै, अवही पाप अनंत करै।

अभष भषयो व बुध्यनास, मुवां पछै दोरमा वास।।"¹⁷

अर्थात् बिना छाने हुए जल का प्रयोग करने से अनेक जीवों की हत्या होती है, इस पाप का कोई अंत नहीं है, इसलिए पानी छानकर पीना चाहिए, जो मनुष्य उत्तम खाद्य पदार्थ छोड़कर मांस भक्षण करते हैं, उसी से बुद्धि नष्ट होती है। वह मरने पर नरकवासी होता है। यहां वील्होजी भोजन की सात्विकता के अतिरिक्त पानी को छानकर पीने की बहुत छोटी लगने वाली परंतु गहनता से विचार करने पर अत्यंत महत्वपूर्ण व मंगलकारी शिक्षा लोक को देते हैं। यह अत्यंत महत्वपूर्ण इसलिए भी है क्योंकि उस समय पश्चिमी राजस्थान में पानी से बाला रोग हो जाता था। लेकिन जल को छानकर पीने से इस रोग से बचा जा सकता था।

इस प्रकार प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण में धार्मिक मान्यताओं की अहम भूमिका रही है। इनका मूल सिद्धांत ही प्रकृति और मनुष्य के बीच में समन्वय है। इनकी मान्यताएं हमेशा से प्रकृति के संरक्षण में निहित है। अतः संतमत के अनुसार मनुष्य का अस्तित्व ही प्रकृति से निर्मित है, इनकी प्रत्येक मान्यता एवं परम्परा में प्रकृति का संरक्षण केन्द्र बिन्दु है। इन संतों ने प्रकृति को मानव भोग्या मात्र समझने की अपेक्षा पशु-पक्षी, पेड़-पौधों, भूमि-जल आदि को दिव्यता से सम्पृक्त कर इन सबके प्रति पवित्रता और कृतज्ञता का भाव प्रदर्शित किया है।

सन्दर्भ:-

1. दास श्यामसुंदर-कबीर ग्रंथावली, 22 वा संस्करण, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
2. नीरज, जयसिंह- राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा, 1989, जयपुर, पृ.24
3. शर्मा, ललित- राजर्षि सन्त पीपाजी, प्रथम संस्करण, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर पृ. 107

जनवरी-जून 2021

4. पारीक, सूर्यशंकर- जाम्भोजी की वाणी सबद 09, प्रथम संस्करण 2001, विकास प्रकाशन, बीकानेर
5. वही, सबद 73
6. बिशनोई, कृष्णलाल- वील्होजी की वाणी- बतीस आखडी, प्रथम संस्करण बीकानेर
7. वही, साखी-4
8. वही, कथा ग्यानचरी
9. क्षमाराम- हरिराम दासजी म. की अनुभव वाणी-संगीत को अंग-21, वि.सं. 2052, सीथल, बीकानेर
10. वही, चित्रावन को अंग, छन्द संख्या.105
11. वही, हरिजस, पद संख्या.145
12. दास, राघो- राघोदासजी म. की अनुभव वाणी, ग्रंथ बारामासो, दोहा-1,2(हस्तलिखित), निमाज (पाली)
13. पाण्डेय, माधवप्रसाद- स्वामी रामचरण: जीवन एवं कृतियों कि अध्ययन, 1982, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग,पृ-359
14. वही, पृ.सं. 360
15. वही, पृ.सं. 360
16. शास्त्री, भगवददास- श्री परसरामजी म.की अनुभव वाणी- दया को अंग-01 वि.सं.2031, अहमदाबाद
17. बिशनोई, कृष्णलाल- वील्होजी की वाणी- बतीस आखडी, प्रथम संस्करण, बीकानेर



हिन्दी भाषा का इतिहास लगभग एक हज़ार वर्ष पुराना माना गया है। हिन्दी भाषा व साहित्य के जानकार अपभ्रंश की अंतिम अवस्था 'अवहट्ट' से हिन्दी का उद्भव स्वीकार करते हैं। चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने इसी अवहट्ट को 'पुरानी हिन्दी' नाम दिया।

अपभ्रंश की समाप्ति और आधुनिक भारतीय भाषाओं के जन्मकाल के समय को संक्रांतिकाल कहा जा सकता है। हिन्दी का स्वरूप शौरसेनी और अर्धमागधी अपभ्रंशों से विकसित हुआ है। १००० ई. के आसपास इसकी स्वतंत्र सत्ता का परिचय मिलने लगा था, जब अपभ्रंश भाषाएँ साहित्यिक संदर्भों में प्रयोग में आ रही थीं। यही भाषाएँ बाद में विकसित होकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के रूप में अभिहित हुईं। अपभ्रंश का जो भी कथ्य रूप था - वही आधुनिक बोलियों में विकसित हुआ।

अपभ्रंश के सम्बंध में 'देशी' शब्द की भी बहुधा चर्चा की जाती है। वास्तव में 'देशी' से देशी शब्द एवं देशी भाषा दोनों का बोध होता है। प्रश्न यह कि देशीय शब्द किस भाषा के थे ? भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में उन शब्दों को 'देशी' कहा है 'जो संस्कृत के तत्सम एवं सद्भव रूपों से भिन्न है। ये 'देशी' शब्द जनभाषा के प्रचलित शब्द थे, जो स्वभावतः अपभ्रंश में भी चले आए थे। जनभाषा व्याकरण के नियमों का अनुसरण नहीं करती, परंतु व्याकरण को जनभाषा की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना पड़ता है, प्राकृत-व्याकरणों ने संस्कृत के ढाँचे पर व्याकरण लिखे और संस्कृत को ही प्राकृत आदि की प्रकृति माना। अतः जो शब्द उनके नियमों की पकड़ में न आ सके, उनको देशी संज्ञा दी गई।